इकाई 3: सामाजिक जीवन में लोक-संस्कृति का महत्व

इकाई की रूपरेखा:

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 लोक-संस्कृति के नियामक तत्व और विशेषताएँ
3.4 साहित्य में लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति
3.5 लोक-संस्कृति और कला का अंतःसंबंध
3.6 लोक-संस्कृति में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति
3.6.1 रीति-रिवाज:
3.6.2 पर्व और त्योहार:
3.6.3 लोक-विश्वास:
3.6.4. वेशभूषा और खानपान:
3.6.5 आमोद-प्रमोद के साधन:
3.7 सारांश
3.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)
3.9 अधिक जानने के लिए पढ़े
3.10 अभ्यास-प्रश्न

3.1 उद्देश्य:

इस इकाई के अध्ययन से अध्येता—

- लोक संस्कृति के नियामक तत्व और विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।
- साहित्य में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति पक्ष को समझने में सक्षम होंगे।
- लोक संस्कृति और कला के अंतःसंबंध को जानेंगे।
- लोक संस्कृति में अभिव्यक्ति सामाजिक पक्ष को समझ सकेंगे।
- लोक संस्कृति से संबंधित विभिन्न विद्वानों के मत से अवगत होंगे।

3.2 प्रस्तावना:

लोक-संस्कृति का मुख्यतः विकासमान प्रवाह लोक-संस्कारों पर आधारित होता है, जो परम्परागत होते हुए भी रूढ़ि का पर्याय नहीं है। ये संस्कार व्यक्तिगत संस्कारों से कतिपय रूप में भिन्न होते हैं। ये व्यक्ति की भाँति जन्म-मरण के चक्र से आबद्ध न

होकर निरंतर विकासमान बने रहते हैं। इनकी बहुमुखी समृद्धि और प्रसारण-क्षमता इनके मूल में निहित है। आनंद इनका बीज है और मंगल-भावना इनका प्राणव्यक्ति-मानस का नहीं, अपितु लोक-मानस का स्वरूप है। इसी प्रकार सभी लोकों की मंगल-भावनाएँ व्यापक होती हैं; इनके मूल में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे सरल एवं हृदयगत भाव प्रवाहित होते हैं।

समग्रतः लोक-संस्कृति के नियामक तत्व जन्म से लेकर मृत्यु तक, त्योहारों से लेकर युद्ध तक, तथा गीतों से लेकर धर्म-गाथाओं तक-मानव जीवन से जुड़े सभी गम्भीर और सूक्ष्म पहलुओं के रूप में सामान्य जन-जीवन में विद्यमान रहते हैं।

3.3 लोक संस्कृति के नियामक तत्व और विशेषताएँ:

लोक-संस्कृति किसी समाज के जीवन, उसकी परंपराओं, आस्थाओं और सामाजिक व्यवहार का दर्पण होती हैसमुदाय के पर्यावरण, इतिहास और जीवन परिस्थितियों से गहराई से जुड़ी रहती है। इसकी जड़ें स्थानीय जीवन में इतनी पैठी होती हैं कि लोक परंपराएँ और कलाएँ उसी क्षेत्र के भौगोलिक परिवेश और संसाधनों से प्रेरित होकर विकसित होती हैं। लोक-संस्कृति का आधार पारंपरिकता है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही मान्यताओं, रीति-रिवाजों और संस्कारों के रूप में प्रकट होती है। ये परंपराएँ समुदाय के लोगों के दैनिक जीवन में गहराई से समाई रहती हैं और उनके सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ बनाती हैं।

लोक-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पहलू उसका मौखिक प्रसारण है। लोकगीतों, लोककथाओं, कहावतों, अनुष्ठानों आदि के माध्यम से इसका ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचता है। इस प्रकार यह किसी लिखित दस्तावेज़ की अपेक्षा लोगों की स्मृति और अनुभव पर अधिक निर्भर रहती है। लोक-संस्कृति सामुदायिक पहचान की प्रतीक भी होती है। यह समाज को एक साझा सांस्कृतिक सूत्र में बाँधती है, जिससे उनमें आपसी प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता की भावना विकसित होती है।

इस संस्कृति का एक विशिष्ट गुण उसका अस्थायित्व है। लोक-जीवन में अनेक कलात्मक अभिव्यक्तियाँ अस्थायी होती हैं - जैसे त्योहारों और मेलों के अवसर पर बनाए जाने वाले सजावटी ढाँचे, चित्र या डिज़ाइन, जो उत्सव समाप्त होने पर नष्ट हो जाते हैं। लोक-संस्कृति का प्रसार औपचारिक शिक्षण से नहीं, बल्कि जीवनानुभवों और सामाजिक सहभागिता के माध्यम से होता है; इसीलिए यह अनौपचारिक रूप से विकसित होती है। इसके अतिरिक्त, लोक-संस्कृति में तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और आस्था को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह लोगों के विश्वास, भक्ति और आध्यात्मिकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, जो समुदाय विशेष के सांस्कृतिक जीवन को गहराई और गरिमा प्रदान करती है।

लोक-संस्कृति के स्वरूप को यद्यपि विभिन्न मतों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है, किन्तु इसे विधिवत शब्दों में बाँधना अत्यन्त कठिन कार्य है। लोक-संस्कृति के संघटक तत्व कहे जाने वाले विविध उपकरण, जो सदियों से इसे चिरस्थायी जीवन प्रदान करते आए हैं, वे हमारे समाज में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। लोक-संस्कृति हमारी भूतकालीन लोककथाओं में निहित है और लोकगीतों के माध्यम से भी अभिव्यक्त होती है। लोक-जीवन से संबंध रखने वाले ये समस्त तत्व किसी जाति-विशेष को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं। साथ ही, वे सभी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, जो मानव को पूर्णता और मोक्ष की ओर अग्रसर करती हैं, संस्कृति का ही अंग होती हैं।अपने विचार व्यक्त करते हुएडॉ. मुंशी राम शर्मालिखते हैं— "जब हम किसी देश, प्रदेश अथवा प्रान्त की चर्चा करते हैं, तो हमारा उद्देश्य उस क्षेत्र के विकसित आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, संस्कार, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान तथा पूजा आदि के विधि-विधान और अनुक्रम का उल्लेख करना होता है। एक व्यक्ति तथा समग्र समाज का विकसित एवं संस्कारित जीवन इन्हीं रूपों में अभिव्यक्त होता है।"

लोक-संस्कृति के तत्वों में मानव-जीवन से सम्बन्धित क्रियात्मक, भावात्मक तथा सृजनात्मक अनुभूतियों का समावेश होता है। वस्तुतः संस्कृति की तुलना एक ऐसे भवन से की जा सकती है, जिसकी अनेक खिड़कियाँ हैं; जिनसे प्रवाहित होने वाली स्वच्छ और शीतल वायु भारतीय लोक-जीवन को सदैव प्रफुल्लित बनाए रखती है। कहा जा सकता है कि संस्कृति ही लोक-जीवन की झाँकी है, जो समयानुसार नवीन लोक-अनुभूतियों को निरन्तर अभिव्यक्त करती रहती है। लोक से ग्रहण किए गए विविध क्रिया-कलाप लोक-संस्कृति के नियामक तत्वों के ही अंग होते हैं।

संक्षेप में लोक-संस्कृति के नियामक तत्वों को समझने के लिए श्रीमतीचारलोट सोफिया वर्नद्वारा दी गई परिभाषा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। उनके अनुसार- "लोकवार्ता एक जाति-बोधक शब्द के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत उन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में विद्यमान अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें सम्मिलित होती हैं। प्रकृति के चेतन और जड़-जगत, मानव-स्वभाव, मनुष्य-निर्मित वस्तुओं, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनसे मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में-जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग और मृत्यु से जुड़े आदिम विश्वास भी इसके क्षेत्र में आते हैं। विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज और अनुष्ठान, तथा त्योहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-पालन, व्यवसाय और पशुपालन से सम्बन्धित परम्पराएँ भी इसमें सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त धर्मगाथाएँ, अवदान (लीजेंड), लोककथाएँ, गीत, किंवदन्तियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में, लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत आने वाली प्रत्येक वस्तु इसका अंग है।"

उपर्युक्त परिभाषा लोक-संस्कृति के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती है। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोक-संस्कृति के निर्धारक तत्व चिरस्थायी होते हैं। वे गतिशील अवश्य रहते हैं, किन्तु कभी समाप्त नहीं होते। देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठकर वे सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता का स्वरूप धारण करते हैं।

3.4 साहित्य में लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति:

किसी भी साहित्यकार की रचना उसके तत्कालीन परिवेश का दर्पण होती है; अर्थात् साहित्य अपने युगीन सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की सजीव झलक प्रस्तुत करता है। साहित्य का है। जन-जीवन से होता है-यही उसका आधारभूत तत्व है। लोक-संस्कृति भी मानव के विविध जैविक एवं सामाजिक क्रिया-कलापों से संबंध रखती है। आज व्यक्ति का जीवन जिन विभिन्न धाराओं के बीच से प्रवाहित होता प्रतीत होता है, उसका मूल स्रोत लोक-संस्कृति को ही माना जा सकता है। लोक-संस्कृति ग्रामीण तथा नगरीय जीवन दोनों को प्रतिबिम्बित करती है, और यही प्रतिबिम्ब साहित्य के माध्यम से साकार रूप ग्रहण करता है।

वास्तव में साहित्य और लोक-साहित्य एक प्रमुख बिन्दु पर आकर मिलते प्रतीत होते हैं। एक ओर किसी भी काल, जाति या देश-विशेष का साहित्य उसकी समग्र मानव-संस्कृति को अभिव्यक्त करता है, वहीं दूसरी ओर विभिन्न कथाओं, उपकथाओं और पात्रों के माध्यम से युग-विशेष के जन-जीवन की लोक-संस्कृति उजागर होती है। प्राचीन काल में अनेक संतों, कवियों और महात्माओं द्वारा सृजित साहित्य में लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत लोक-संग्रह और लोक-संस्कृति के विविध तत्वों को प्रमुखता दी गई है। फलस्वरूप प्राचीन ग्रन्थ हमारे लोक-जीवन और संस्कृति के उन अमूल्य तत्वों का विवेचन करते हैं, जो समस्त मानव-जीवन को शक्ति, उत्साह, आशा और विश्वास प्रदान करते हुए उसे निरन्तर विकास की दिशा में अग्रसर करते हैं।

साहित्य ने मानव-जीवन के लिए अनेक उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा की है, जो उसके मार्गदर्शन हेतु आलोक-स्तम्भ के समान हैं। लोक-संस्कृति का मुख्य आधार हमारा अतीत है, जिसकी शाब्दिक और भावात्मक अभिव्यक्ति लोक-कथाओं और लोक-गीतों में सहज रूप से दिखाई देती है। इनका अध्ययन हम लोक-साहित्य के अन्तर्गत करते हैं। लोक-साहित्य तथा अन्य कलाओं के माध्यम से मानव-जीवन में घटित सुख-दुःख, शोक और आनन्द की अभिव्यक्तियाँ सामने आती हैं, जो लोक-मानस की आन्तरिक अनुभूतियों की द्योतक होती हैं।

मानव-जीवन के अबूझ रहस्यों को उद्घाटित करने में साहित्य एक सशक्त और सार्थक माध्यम सिद्ध हुआ है। जीवन की भावात्मक और सृजनात्मक अनुभूतियों का

भण्डार साहित्य ही है। प्राचीन साहित्य में विद्यमान लोक-संस्कृति के तत्वों पर अपने विचार व्यक्त करते हुएआद्याप्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं- "अनेक मौखिक एवं लिखित मनोरंजक आख्यायिकाओं तथा गीतों में संस्कृति के तत्व इस प्रकार संयोजित किए गए हैं कि उनसे अनपढ़, अशिक्षित अथवा सामान्य जन ही नहीं, अपितु सुशिक्षित विद्वान और पण्डित भी समान रूप से रसास्वादन कर सकते हैं। इन रचनाओं में ऐसा मधुमय आसव संचित है, जो परम अह्लादकारक, कल्याणकारी एवं अलौकिक अनुभूति प्रदान करने वाला है।"यही अलौकिक अनुभूति हमें वेदों से लेकर वाल्मीकि, वेदव्यास, कबीर, सूर, तुलसी आदि के साहित्य में भी मिलती है। श्रीमद्भागवद्गीता, महाभारत और रामचरित मानस तो भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। आगे चलकर गाँधी साहित्य में भी हम उसी साहित्य और संस्कृति के समन्वित स्वरूप का दर्शन करते हैं।

सारांशतः लोक-संस्कृति और साहित्य को साध्य और साधन के रूप में परस्पर सम्बद्ध माना जा सकता है। लोक-मानस के उच्च जीवन-मूल्यों, धार्मिक प्रवृत्तियों और सामाजिक प्रतिष्ठाओं का विनम्र उद्घाटन साहित्य में ही होता है; इस दृष्टि से साहित्य साधन के रूप में कार्य करता है। साहित्य और संस्कृति के सम्बन्धों कीडॉ. नगेन्द्र ने सुंदर व्याख्या की है- "साहित्य और संस्कृति के मूल तत्व एवं सहज धर्म एक ही हैं। संस्कृति जहाँ व्यापक स्तर पर जीवन का संस्कार करती है, वहाँ साहित्य अपनी परिधि में चेतना का परिष्कार करता है। इस प्रकार साहित्य संस्कृति का नवनीत है।"

डॉ. नगेन्द्र जहाँ साहित्य को संस्कृति का साररूप बताते हैं, वहींडॉ.रमेशचन्द्र शर्मासाहित्य और संस्कृति को मानव की मंगल-कामना से जोड़ते हुए कहते हैं- "मानव की सामान्यतः यही कामना रहती है कि वह अपने जीवन को अधिकाधिक सुन्दर और मधुर बनाए। संस्कृति मानव की इसी कामना का फल है, जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती रहती है। जीवन में हमें अनेक कटुताएँ भी मिलती हैं, और इन्हीं से जूझते हुए हम अपने अनुभव को समृद्ध बनाते हैं तथा शिवत्व का वरण करते हैं। जो साहित्य हमें ऐसे अनुभवों से समृद्ध करता है, वही सांस्कृतिक साहित्य कहलाता है।"

यहाँ डॉ. शर्मा सांस्कृतिक साहित्य के माध्यम से साहित्य और संस्कृति को इस प्रकार जोड़ते हैं कि दोनों लोक-जीवन की सरस अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में परस्पर आश्रित प्रतीत होते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन में संस्कृति आधारभूत तत्व के रूप में विद्यमान रहती है। अपने प्राचीन साहित्य के अध्ययन से हम एक ओर तत्कालीन संस्कृति की मनोहर झाँकी देखकर आनन्दित होते हैं, तो दूसरी ओर समाज के सांस्कृतिक पतन के चित्रों को पढ़कर करुणा और विषाद से भर उठते हैं।साहित्य संस्कृति का वाहक है; अतः साहित्यकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी लोक-संस्कृति के प्रति श्रद्धा और ईमानदारी का भाव रखते हुए साहित्य की रचना करे

तथा स्वस्थ मानव-समाज के निर्माण और उसके कल्याण में अपना अमूल्य योगदान दे।

3.5 लोक-संस्कृति और कला का अंतःसंबंध:

प्राचीन काल से ही भारतीय इतिहास को समझने के लिए साहित्य और कला दो प्रमुख आधार स्तंभ रहे हैं। साहित्य को इतिहास-बोध का एक आंशिक साधन माना जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष साक्ष्यों के अभाव में इसमें कतिपय विसंगतियों की संभावना बनी रहती है। इसके विपरीत, प्राचीन कला के माध्यम से हम भारतीय जनजीवन के संपूर्ण इतिहास का सजीव साक्षात्कार कर सकते हैं। कला लोक-जीवन के उन अनछुए और गूढ पहलुओं को भी उजागर करती है, जिन्हें शब्दबद्ध करने में साहित्य प्रायः असमर्थ सिद्ध होता है।

लोक-संस्कृति विभिन्न तत्वों का सम्मिश्रण होती है, जिसमें कला भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। प्राचीन भारतीय कला लोक-जीवन से अत्याधिक सामीप्य रखती है। कला ने लोक-जीवन के संसर्ग से अपनी सजीवता और अस्तित्व को जीवित रखा है। कहना अनुचित नहीं होगा कि संस्कृति का प्राणवान होना, तभी सम्भव है जब तक की पीढ़ी दर पीढ़ी उसके तत्वों का सही मूल्यांकन होता रहे और इस मूल्यांकन का एक अतिमहत्वपूर्ण माध्यम कला को कहा जा सकता है। लोक द्वारा निर्मित कला को 'लोक कला' कहा जाता है। लोक शब्द के अर्थ विस्तार को देखते हुए कहा जा सकता है कि लोक द्वारा निर्मित लोक-संगीत, लोक-नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि कलाओं को भी लोक-कला के अन्तर्गत, माना जा सकता है। यहाँ कला को मात्र मन साधारण से न जोड़कर पूरी संस्कृति अर्थात् ग्रामीणऔर नगरीय सभ्यता के सन्दर्भ में देखना उचित होगा क्योंकि इसका संबंध इन दोनों से ही समान अनुपात में हैं। इस संबंध में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का मत है- प्रत्येक देश की संस्कृति तथा साहित्य परम्परा के दो भाग होते हैं- ग्रामीण परम्परा तथा नगरीय परम्परा। इन दोनों के बीच दूध और मलाई का संबंध है।

प्राचीन काल से ही भारतीय इतिहास का परिचय प्राप्त करने के लिए साहित्य और कला-दोनों को प्रमुख साधनों के रूप में स्वीकार किया गया है। साहित्य को इतिहास-दर्शन का पूर्णतः विश्वसनीय उपकरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्षता के अभाव में उसमें कतिपय त्रुटियों की सम्भावना रहती है; किन्तु प्राचीन कला के माध्यम से हम भारतीय लोक-जीवन के इतिहास की अधिक सजीव झाँकी देख सकते हैं। कला लोक-जीवन के उन जटिल और अबूझ पहलुओं को भी प्रकाशित करती है, जिनका सम्यक् विवरण देने में साहित्य कभी-कभी असमर्थ रह जाता है।

लोक-संस्कृति विभिन्न तत्वों का समन्वित रूप है, जिसमें कला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व है। प्राचीन भारतीय कला का लोक-जीवन से अत्यधिक निकट संबंध रहा है। कला ने लोक-जीवन के संसर्ग से ही अपनी सजीवता और अस्तित्व को बनाए रखा है। कहना अनुचित नहीं होगा कि संस्कृति का प्राणवान बने रहना तभी सम्भव है, जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके तत्वों का समुचित मूल्यांकन होता रहे; और इस मूल्यांकन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम कला है।

लोक द्वारा सृजित कला को 'लोक-कला' कहा जाता है। 'लोक' शब्द के व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि लोक द्वारा निर्मित लोक-संगीत, लोक-नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी कलाएँ 'लोक-कला' के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ कला को केवल सामान्य जन-मन से जोड़कर न देखकर, सम्पूर्ण संस्कृति-अर्थात् ग्रामीण और नगरीय सभ्यता-के सन्दर्भ में समझना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसका संबंध दोनों से समान रूप से है।इस सन्दर्भ मेंडॉ धीरेंद्र वर्मा का मत उल्लेखनीय है- "प्रत्येक देश की संस्कृति तथा साहित्य-परम्परा के दो भाग होते हैं-ग्रामीण परम्परा और नगरीय परम्परा; इन दोनों का संबंध ऐसा है, जैसे दूध और उसके ऊपर जमी हुई मलाई।"

स्मरणीय बिंदु:

1. शास्त्रीय कला और लोक-कला भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण लक्षणों से प्रेरित हैं।भाव, रस और ध्वनि सभी भारतीय कलाओं के मूल तत्व हैं।
2. स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य, नाटक, संगीत और नृत्य आदि कलाएँ इन्हीं आधारों पर विकसित होती हैं।
3. लोक-मानस की विविध अनुभूतियाँ इन कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं।
4. संगीत के अंतर्गत लोक-गीत हमारे अतीत और परंपराओं को जीवंत करते हैं।
5. स्थापत्य-कला प्राचीन वास्तु-शास्त्र और निर्माण परंपराओं का परिचय कराती है।
6. लोक-संस्कृति और कलाओं के बीच अत्यंत गहरा संबंध है।
7. सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सभी ललित कलाओं के मूल में लोक-जीवन की भावनाएँ निहित होती हैं।साहित्य इन कलाओं की अभिव्यक्ति और प्रस्तुति का सशक्त माध्यम है।
8. कलाएँ किसी देश की संस्कृति को विकसित कर उसे विश्व-पटल पर उच्च स्थान दिलाती हैं।

भारत की ललित कलाओं के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामेश्वर दयाल लिखते हैं- "भारत की प्रत्येक ललित कला इतनी सम्पन्नता और विविधता से कुसमित हुई हैं कि उसका वर्णन अनेक जिल्दों में ही हो सकता है। जिस प्रकार उपनिषद और

गीता का ज्ञान-दर्शन संसार का अग्रणी बनने का दावा कर सकता है उसी प्रकार एलोरा की मूर्तिकला, अजन्ता की चित्रकला, वाल्मीकि और व्यास के महाकाव्य, कालिदास के काव्य और नाटक, मीरा और अक्का महादेवी का साहित्य आदि की दृष्टि से भारत विश्व का अग्रणी देश बनने का दावा कर सकता है। गीत कला व्यक्ति के विविध अनुभूतियों और भावोंको वहन करने वाली होने के कारण संस्कृति की परिचायक भी होती है। असगर अली कादरी अपनी पुस्तक 'मूर्तिकला का विकास' में ललित कला पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं-सामाजिक-जातीय चित्त वृत्तियाँ कला में स्थान पाती है और कला की उन्नति से उस जाति या देश-विशेष की सांस्कृतिक उन्नति का पता चलता है।

अतीत की छोर को छूती हुई जितनी दूर तक हमारी दृष्टि जाती है, युग-युग की लोक-सांस्कृतिक परम्परा हमें भारतीय ललित-कलाओं के कोष में सुरक्षित दिखाई देते हैं। मानव ने सदियों से अपने विविध प्रकार के भावोद्गारों और आन्तरिक अनुभूतियों को प्रत्यक्ष एवं मूर्त रूप देने के लिए कलाओं का सहारा लिया है। कला में धर्म, संस्कृति और दर्शन तीनों के एकत्व की प्रतिष्ठा मिलती है। कहा जा सकता है कि लोक-संस्कृति के सभी तत्वों का उद्घाटन किसी न किसी रूप में कला के माध्यम से हो जाता है।

अपनी प्रगति जाँचें:

प्रश्न 1.भारतीय समस्त कलाओं के मूल में क्या निहित है?

प्रश्न 2.'लोक-संस्कृति' शब्द को विस्तार से समझाइए।

प्रश्न3. साहित्य और संस्कृति के संबंध में डॉ. नगेन्द्र के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

3.6 लोक संस्कृति में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति:

लोक संस्कृति सामाजिक जीवन का दर्पण होती हैकिसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि पूरे समुदाय की सामूहिक चेतना का परिणाम होती है। समाज की परंपराएँ, विश्वास, जीवन-पद्धतियाँ और अनुभव लोक संस्कृति में रूपांतरित होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होते रहते हैं। इसकी जड़ें अतीत में निहित होती हैं, जहाँ से यह वर्तमान को दिशा प्रदान करती है।लोकगीत, लोकगाथाएँ, नृत्य और विविध कला-रूप समाज की भावनाओं, संघर्षों तथा उल्लास का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। लोक संस्कृति का सार यह है कि इसमें समाज का जीवन, उसका इतिहास और उसकी आत्मा एक साथ अभिव्यक्त होते हैं। यही विशेषता इसे जीवंत, सतत और अविच्छिन्न बनाती है।लोक संस्कृति में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति को हम निम्नलिखित रूपों में देख सकते हैं-

3.6.1 रीति-रिवाज:

विविध प्रकार के रीति-रिवाजों को लोक-संस्कृति का प्राण तत्व कहा जा सकता है क्योंकि ये रीति-रिवाज ही किसी मानव समुदाय तथा व्यक्ति के स्तर और उसकी नानाप्रकार की अनुभूतियों के साक्षी होते हैं। ये रीति-रिवाज वर्तमान समय में कुछ धुँधले पड़ गए हैं। इन्होंने आधुनिकता का चोगा भले ही पहना हो परन्तु ये आज भी लोक-जीवन में अपना स्थान यथावत बनाए हुए हैं। व्यक्तिगत जीवन में उल्लास और सौंदर्य का रस घोलने वाले ये रीति-रिवाज व्यक्ति को परम्परा पालन की प्रेरणा प्रदान करने वाले होते हैं। सहस्र वर्षों से अपरिवर्तित कुछ रीति-रिवाज ऐसे हैं, जिन्हें आज भी समाज अपने आदर्श रूप में प्रयुक्त करता है। अध्ययन की सुविधा के लिए लोक जीवन में प्रचलित विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाजों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है -

क) व्यक्तिगत और पारिवारिक रीति-रिवाज, ख)सामूहिक और सामाजिक रीति-रिवाज

व्यक्तिगत जीवन के अनेक आचरण भारतीय आदर्शों और आध्यात्मिक दर्शन से अनुप्राणित हैं। कालांतर में ये व्यवहार व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक परंपराओं के रूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं। उदाहरणस्वरूप, शुचिता का पालन करते हुए किसी के जूठे पात्र का उपयोग न करना अथवा भोजन ग्रहण करने से पूर्व कृतज्ञता भाव से ईश्वर का स्मरण करना। इसके अतिरिक्त, जन्म से लेकर अंत्येष्टि तक मनुष्य का संपूर्ण जीवन विविध संस्कारों और रीति-रिवाजों से निर्देशित होता है। जन्म के समय संपादित होने वाले विभिन्न अनुष्ठान व्यक्ति के चारित्रिक निर्माण की नींव रखते हैं और उसे सामाजिक व नैतिक आचार-व्यवहार की शिक्षा देते हैं—ये सभी व्यक्तिगत संस्कारों की व्यापक श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।दैनिक जीवनचर्या, जन्म, कर्म, ज्ञान, व्रत-उपवास, शयन, खान-पान तथा स्थान-विशेष से संबंधित अनेक रीति-रिवाज सामूहिक परंपराओं के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार, शिष्टाचार और अतिथि-सत्कार से जुड़ी अनेक रूढ़ियाँ भी सामाजिक रीति-रिवाजों का ही हिस्सा हैं। बच्चे के जन्म के समय जच्चा की चारपाई के पायों के नीचे तकिए रखना, सोहर गाना, लग्न-ग्रह आदि का विचार करना तथा शकुन-अपशकुन की मान्यताओं के आधार पर शिशु की रक्षा हेतु विविध विधि-विधानों का पालन करना-ये सभी ऐसी प्रचलित परंपराएँ हैं, जो आज भी लोकजीवन में विद्यमान हैं।

मानव-जीवन को विविध रंगों से सुसज्जित करने और नियमित बनाने में ये प्रथाएँ और रीतियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विविध संस्कार, जिनमें मानव जीवन के सोलह संस्कार भी सम्मिलित हैं। पर्वोत्सव, दैनिक जीवनचर्या, शिष्टाचार, सामूहिक उपासना, भोज, व्रत-उपवास, भजन-कीर्तन, आदि सभी रीति-रिवाजों में ही आते हैं। इन रीति-रिवाजों का पालन करने में व्यक्ति किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं करता, वह

सहर्ष इनका पालन करता चला जाता है। बँधी-बँधाई लीक पर चलने में भी उसे आनन्द का अनुभव होता है। ये रूढ़ियाँ कहीं न कहीं उसे उसके अतीत से जोड़ती चलती हैं। इनमें मौलिकता का अभाव होने पर भी मनुष्य इनका आँचल पकड़े रहता है। इनका पालन न करने पर हृदय में उसे कहीं न कहीं भय का सामना करना पड़ता है। लोक जीवन में ये रीति-रिवाज अपनी शक्ति और सामर्थ्य के साथ जीवित हैं। इन्हें लोक-संस्कृति का धरोहर कहा जा सकता है। रीति-रिवाजों के अन्तर्गत आई लोक-रीतियों और प्रथाओं के विषय में पश्चिमी विद्वान जी. एन. लुण्डबर्ग कहते हैं- प्रथाएँ वे लोक-रीतियाँ हैं जो दीर्घकाल से चली आ रही हैं, जिससे इन्हें औपचारिक स्वीकृति प्राप्त हो गई है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।

3.6.2 पर्व और त्योहार:

धार्मिक और आध्यात्मिक मत को सामने रखकर पर्व और त्योहारों के विषय में कहा जाए, तो यह कहना कदापि असत्य नहीं होगा कि इस समस्त संसार की सत्यता और परिपूर्णता का स्रोत पर्व और त्योहारों में बसा है। भारतीय संस्कृति में रचे-बसे विविध प्रकार पर्व और त्योहारों का धर्म से अत्यंत घनिष्टसंबंध है। इस समृद्ध और वैभवशाली देश में प्रत्येक ऋतु में विभिन्न प्रकार के त्योहार उत्साहपूर्वक मनाए जाते हैं।

मानव संस्कृति के विकास में पर्व-उत्सवों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्राचीन काल से ही मानव की अंतर्मन की विविध भावनाओं और अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए इनका आयोजन होता आया है। त्योहार व्यक्ति के हर्ष, उल्लास और सामूहिक आनंद को प्रकट करते हैं। मानव जीवन से जुड़े विविध लोकाचार, सामाजिक परंपराएँ, मूल्य, सांस्कृतिक प्रतिमान, विचार, धर्म तथा कुछ अंधविश्वास भी समाज में विशेष स्थान रखते हैं। इनसे संबंधित तिथियों के अनुसार मनाए जाने वाले अवसर 'त्योहार' कहलाते हैं।'पर्व' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'गाँठ' या 'संधि-स्थान' है। जैसे बाँस में समान दूरी पर गाँठें होती हैं, उसी प्रकार ज्योतिषीय मान्यताओं के अनुसार भारतीय पर्व भी निश्चित समयांतराल पर आते हैं।शब्दकोशकार रामचन्द्र वर्मा के अनुसार 'पर्व' के निम्नलिखित अर्थ हैं-

1. धर्म, पुण्य कार्य या उत्सव करने का समय (पुण्यकाल)
2. प्रतिपदा से पूर्णिमा या अमावस्या तक का काल (पक्ष)।
3. दिन।
4. क्षण।
5. अवसर या मौका।
6. उत्सव।

इस प्रकार, पर्व और त्योहार न केवल धार्मिक आस्था के प्रतीक हैं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अभिन्न अंग भी हैं।

पर्व और उत्सव में कुछ स्वाभाविक भिन्नताएँ हैं। स्नानादि धार्मिक क्रिया से संबंधित तिथियाँ पर्व कहलाती हैं,जबकि जीवन के हर्ष-उल्लास के साथ मनोरंजन को अभिव्यक्त करने वाली तिथियाँ उत्सव के रूप में जानी जाती हैं। लोक-संस्कृति से इनका सीधा संबंध होता है। पर्व और उत्सव के संबंध में डॉ मदन गोपाल गुप्त लिखते हैं-पर्व-उत्सव किसी भी समाज की सांस्कृतिक निधि हुआ करते हैं तथा देश और समाजगत वैशिष्ट्य के अनुसार जन-जीवन के बीच विशेष प्रकार से प्रचलित होकर देश के निजी व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हैं। भारत में अनेक ऐसे पर्व-उत्सव हैं, जिन्हें यहाँ का समाज चिरकाल से पालन करता चला आ रहा है और उसके माध्यम से यहाँ की सनातन संस्कृति की एकता को प्रतिष्ठित कर सका है।

कई भारतीय त्योहारों का जुड़ाव प्रकृति से है। प्रकृति में बदलती ऋतुएँ कुछ त्योहारों को जन्म देती है। जैसे बसन्त पंचमी, श्रावणी, शरद पूर्णिमा आदि। कतिपय त्योहार पौराणिक आख्यानों से जुड़े हैं। जैसे-शिवरात्रि, जन्माष्टमी, रामनवमी, विजयदशमी, दुर्गापूजा, नवरात्र, रक्षाबन्धन आदि। विविधता से भरे ये त्योहार अपने मूल में सामान्यतः जीवन की नीरसता को दूर करने का मूल मंत्र संजोए हैं। ये लौकिक तथा पारिवारिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं होते, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी मानव जीवन के लिए एक प्रेरणा स्रोत का कार्य करते हैं।

3.6.3 लोक-विश्वास:

लोक-विश्वास किसी भी देश या काल की सुदृढ़ और जीवंत लोक-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण तत्वों में उच्च स्थान रखते हैं। ये अपने विषय-क्षेत्र में प्रकृति से संबंधित लगभग सभी वस्तुओं और घटनाओं को समाहित कर लेते हैं। सदियों से चली आ रही अनेक मान्यताएँ और धारणाएँ इतनी सूक्ष्मता से लोकजीवन में परंपरा के रूप में घुल-मिल जाती हैं कि उन्हें मूल संस्कारों से अलग करना कठिन हो जाता है।ऐसी मान्यताओं को केवल तर्क के आधार पर खारिज नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनके मूल में परंपरा और विश्वास की गहरी जड़ें होती हैं। इस प्रकार की विविध धारणाओं और स्थापनाओं को 'लोक-विश्वास' कहा जाता है।

लोक-विश्वास व्यक्ति की भावनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं। मानव-मन से इनके संबंध को स्पष्ट करते हुए आद्याप्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं- "लोक-विश्वासों का सीधा संबंध मानव के अंतरमन से होता है। समाज से जुड़ा होने के कारण अंतरमन सामाजिक रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति का विश्वास प्रायः सामाजिक विश्वास का रूप ग्रहण कर लेता है, और दूसरी ओर सामाजिक विश्वास व्यक्ति के भीतर समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक अंतर्भावनाएँ सांस्कृतिक तत्व का रूप धारण कर लेती हैं।"

संसार में प्रचलित विभिन्न सभ्यताओं और जातियों ने विविध प्रकार के अन्धविश्वासों और मूढाग्रहों को अपने जीवन पद्धति के आधारभूत तत्व के रूप में अपनाया है। इन विश्वासों में अन्धविश्वास के अतिरिक्त पुर्नजन्म, कर्मफलवाद और भाग्यवाद का भी प्रमुख स्थान है। कतिपय टोने-टोटके, तंत्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन आदि लोक-विश्वास भी लोक जीवन में आज भी विस्तृत रूप में व्याप्त है। लोक-विश्वासों को पौराणिक विश्वास, धार्मिक विश्वास, सामाजिक विश्वास तथा अन्धविश्वास आदि कई वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए धार्मिक विश्वास की भावना से प्रेरित होकर यह सूक्ति गढ़ी गई है-'भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न पौरुषम्'। इस भाव को पंचतंत्र में भी व्यक्त किया गया है। भारतीय संस्कृति में सजीव से लेकर निर्जीव वस्तुओं से सम्बन्धित लोक-विश्वास अपनी पूर्ण सत्ता के साथ लोक जीवन को प्रभावित करते रहे हैं।लोक-संस्कृति में अभिन्न रूप से गुँथे हुए ये लोक-विश्वास साहित्यकार को भी प्रभावित किए बिना नहीं रहते, क्योंकि जब रचनाशीलता सामाजशीलता से अपना संबंध स्थापित करती है, तब एक रचनाकार के लिए समाज में प्रचलित उपादानों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। लोक-विश्वास सार्थक रचना को समृद्धि प्रदान करते हैं। इनके योग से रचना अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हुई कालजयी बन जाती है।जब किसी रचना के समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता होती है, तब इन लोक-विश्वासों की जानकारी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती है, क्योंकि ये तत्व तत्कालीन समाज का यथार्थ मूल्यांकन प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं।

3.6.4. वेशभूषा और खानपान:

लोक-मानस की जीवन पद्धति अर्थात् उनका रहन-सहन और खान-पान लोक-संस्कृति का महत्वपूर्ण तत्वहै। युग अथवा काल विशेष की जनता जिस प्रकार भोजन और वस्त्राभूषण ग्रहण करती है, इससे उनके सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। खानपान जीवन का अनिवार्य तत्व है, वहीं रहन-सहन उसकी सम्पन्नता और समृद्धि का द्योतक है। अपने कुटुम्ब और समाज की मर्यादा का पालन करने तथा शरीर की रक्षा और व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के लिए नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से देहालंकृत की जाती है। इन्हीं वस्त्र और आभूषणों को समुदाय या समाज विशेष की वेशभूषा कहा जा सकता है। डॉ. सावित्रीचन्द्र शोभा लिखती हैं-वेश-विन्यास के अन्तर्गत समाज विशेष के वस्त्राभूषणों का विवरण है। किसी भी देश में समाज की उन्नति और सभ्यता के एक पक्षीय स्वरूप का दर्शन, वहाँ के विभिन्न वर्गों के वस्त्रों की कोटि एवं बहुमूल्य आभूषणों से हो सकता है।

युग और परिस्थितियों के अनुसार ही नहीं बल्कि क्षेत्र विशेष की सीमा और जलवायु भी मानव-मात्र के पहनावे को प्रभावित करती हैं। बर्फीले प्रदेश और रेगिस्तानी जलवायु भिन्न-भिन्न पहनावे को जन्म देती है। भारतीय संस्कृति में जहाँ साड़ी पूरे

भारतवर्ष के नारी परिधान का प्रतिनिधित्व करती है,वहीं पश्चिमी संस्कृति गाउन या स्कर्ट को स्त्रियोचित पहनावा मानती है। पुरुषों और बच्चों के वस्त्र भी इन्हीं सब परिस्थितियों के अनुरूप निश्चित किए जाते हैं। भारतवर्ष का भूगोल और जलवायु यहाँ के लोगों के वस्त्र और आभूषण में भी विविधता का का निर्धारण करते हैं। क्षेत्रीय वस्त्राभूषणों की विविधता साहित्यकार को भी कहीं न कहीं आकर्षित करती है। विशेषकर स्त्रियों के आभूषणों की सुन्दरता को अपने कथ्य बिन्दु में रखा जाता है। भोजन समस्त मानव मात्र की आवश्यकता है। इसके अभाव में जीवन की कल्पना असंभव है। किसी भी युग की सभ्यता एवं रहन-सहन के स्तर पर तत्कालीन खान-पान और पाक-कला का पूर्ण प्रभाव होता है। आदिम मानव कच्चे फल-फूल, मांस आदि से अपनी उदर-पूर्ति करता था। सभ्यता के विकास, आग के आविष्कार और जिह्वा के स्वाद ने उसे पके हुए भोजन को ग्रहण करने की ओर उन्मुख किया। भारतीय संस्कृति में निरामिष अर्थात् शाकाहार को सर्वोत्तम भोजन माना जाता है। इसके पीछे आयुर्वेद और अध्यात्म के तर्कों का जाल है। आज आधुनिक युग में यद्यपि पश्चिमी सभ्यता के अनुसरण-स्वरूप मांसाहार का प्रचलन बढ़ रहा है तथापि वैज्ञानिक और चिकित्सा दृष्टि से शाकाहार अधिक लाभकारी और सुपाच्य भोजन माना जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेशभूषा, शृंगार प्रसाधन, भोजन जैसी जीवन-पद्धति के अनिवार्य तत्व वर्ग अथवा क्षेत्र विशेष की संस्कृति से अवगत करा देते हैं तथा आर्थिक विपन्नता और सम्पन्नता की भी झाँकी प्रस्तुत कर देते हैं।

3.6.5 आमोद-प्रमोद के साधन:

लोक-संस्कृति को पुष्ट करने में विविध प्रकार के मनोरंजक उपादानों का विशेष योगदान रहा है। लोकमानस के हृदय को दुःख और विषाद की स्थिति से बाहर निकालकर उसे सामान्य जीवन की ओर अग्रसर करने में आमोद-प्रमोद के साधनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जीवन की नीरसता को दूर कर नई उमंग से जीवन जीने के लिए इन साधनों की आवश्यकता सदैव अनुभव की गई है। काम के बोझ तले दबा व्यक्ति यदि कुछ क्षण मनोरंजन में व्यतीत कर ले, तो वह नई स्फूर्ति से कार्य करता है। प्राचीन काल में आमोद-प्रमोद के लिए नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध, घुड़दौड़ आदि की सहायता ली जाती थी, जिसमें आंशिक रूप से प्रतियोगिता का भाव भी निहित होता था। तदुपरान्त मनुष्य उद्यान विहार, जल-क्रीडा, काव्यिक मनोरंजन जैसे कथा-कहानी, कविता पाठ आदि की ओर आकर्षित हुआ। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ इन साधनों में भी विकास हुआ। इनका स्थान पर आधुनिक युग की नगरीय सभ्यता में सिनेमा, डिस्को, नाइट कल्ब,स्टारनाइट आदि ने ले लिया।

लोक-संस्कृति समाज विशेष की जीवन-शैली का आईना कही जा सकती है। लोक से ही संस्कृति की उपज होती है। उसी से उसका लालन-पालन होता है। संस्कृति समाज में व्याप्त विविध प्रकार की आन्तरिक प्रवृत्तियों का मिला-जुला रूपहै। मनुष्य के

सामूहिक अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति संस्कृति के रूप में होती है,किन्तु लोक और संस्कृति में सूक्ष्म वैषम्य भी है। लोक की परिधि आज अत्यन्त विस्तृत कही जा सकती है। संस्कृति का क्षेत्र देश-काल विशेष के आधार पर अपना रूप परिवर्तित कर सीमित दायरे में भी बँध जाता है। संस्कृति लोक का भविष्य निश्चित नहीं कर सकती क्योंकि लोक सदैव जीवित रहता है किन्तु संस्कृति त्रुटियाँ आने पर सुप्तावस्था को प्राप्त हो सकती है जैसे आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय संस्कृति का अस्तित्व खतरे में है। लोक-संस्कृति की सशक्त अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होती है। साहित्य ही लोक जीवन के मूल्यवान उच्चादर्शों का निदर्शन करता है जो वर्तमान सभ्यता और संस्कृति के लिए आवश्यक हो सकते हैं।

अपनी प्रगति जाँचे:

प्रश्न 4.लोक संस्कृति का सार क्या है?

प्रश्न 5. रीति-रिवाज को अध्ययन की सुविधानुसार कितने भागों में बाँटा गया है?

3.7 सारांश:

'लोक' एवं 'संस्कृति' की अवधारणा, उनके व्युत्पत्तिपरक अर्थ तथा महत्त्व के सम्यक् अनुशीलन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य अर्थ में 'लोक' का तात्पर्य गाँवों में निवास करने वाली अपेक्षाकृत अशिक्षित एवं साधारण जनता से लिया जाता रहा है; किन्तु आधुनिक युग में 'लोक' की परिधि अत्यंत व्यापक हो गई है, जिसमें समस्त मानव-समुदाय और उससे जुड़ी विविध अनुभूतियाँ समाहित हैं।

'संस्कृति' अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ में परिष्कार और परिमार्जन की प्रक्रिया को व्यक्त करती हैवह शक्ति है, जो प्रकृति के विस्तृत अंचल में स्थित 'लोक' को सुसंस्कृत, सुसभ्य और आचारवान बनाने का कार्य करती है। आज संस्कृति की परिभाषा को लेकर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है, जिसका प्रमुख कारण इसकी निरंतर विस्तृत होती परिधि और अर्थ-गाम्भीर्य है।संस्कृति के नियामक तत्वों का पोषण समाज ही करता है। समाज की जीवन-पद्धति से जुड़े असंख्य आयाम लोक-संस्कृति के ही अंग होते हैं। दीर्घकाल से प्रचलित रीति-रिवाज लोक-संस्कृति के प्रमुख आधार हैं। जीवन की नीरसता और शुष्कता को दूर करने वाले पर्व-उत्सव भी लोक-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि के कारण जिन असत्य अथवा अप्रमाणित तथ्यों पर आँख मूँदकर विश्वास करता रहता है, वे कालांतर में 'लोक-विश्वास' का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जिनका अध्ययन भी लोक-संस्कृति के अंतर्गत किया जाता है। परिवेश और

परिस्थितियों से प्रभावित समाज का खान-पान और वेश-भूषा भी लोक-संस्कृति का ही परिणाम होते हैं।

जीवन की व्यस्तता के बीच आनंद, उमंग और रोचकता का संचार करने वाले आमोद-प्रमोद के विविध साधनों का विकास भी लोक-संस्कृति के अंतर्गत ही होता है।लोक-संस्कृति का अन्य कलाओं से गहरा संबंध होता है, क्योंकि चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि कलाएँ इसकी अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम हैं। अजंता और एलोरा की मूर्तिकला जहाँ युगीन लोकजीवन को मूर्त रूप में प्रस्तुत करती है, वहीं ताजमहल, चारमिनार और लालकिला जैसी ऐतिहासिक इमारतें मुगलकालीन वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी युग की लोक-संस्कृति उस समय के रचनाकारों द्वारा शब्दबद्ध होकर संरक्षित होती है, जो एक ओर अतीत की धरोहर है और दूसरी ओर वर्तमान के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्ध होती है।

3.8 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा):

प्रश्न संख्या 1 का उत्तर: समस्त भारतीय कलाओं के मूल में भाव, रस और ध्वनि है।

प्रश्न संख्या 2 का उत्तर: 'लोक' शब्द के अर्थ विस्तार को देखते हुए कहा जा सकता है कि लोक द्वारा निर्मित लोक-संगीत, लोक-नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि कलाओं को भी लोक-कला के अन्तर्गत, माना जा सकता है। यहाँ कला को मात्र मन साधारण से न जोड़कर पूरी संस्कृति अर्थात् ग्रामीण और नगरीय सभ्यता के सन्दर्भ में देखना उचित होगा क्योंकि इसका संबंध इन दोनों से ही समान अनुपात में हैं।

प्रश्न संख्या 3 का उत्तर: साहित्य और संस्कृति के संबंध में डॉ. नगेन्द्र का विचार है- साहित्य और संस्कृति के मूल तत्व एवं सहजधर्म एक ही है। संस्कृति जहाँ व्यापक स्तर पर जीवन का संस्कार करती है, वहाँ साहित्य अपनी परिधि में चेतना का परिष्कार करता है। इस प्रकार साहित्य संस्कृति का नवनीत है।

प्रश्न संख्या 4 का उत्तर:लोक संस्कृति का सार यह है कि इसमें समाज का जीवन, उसका इतिहास और उसकी आत्मा एक साथ अभिव्यक्त होती है।यही इसे जीवंत और अविच्छिन्न बनाती है।

प्रश्न संख्या 5 का उत्तर: लोक जीवन में प्रचलित विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाजों को अध्ययन की सुविधानुसार मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है।

क) व्यक्तिगत और पारिवारिक रीति-रिवाज

ख)सामूहिक और सामाजिक रीति-रिवाज

3.9 अधिक जानने के लिए पढ़े:

- परमार, डॉ. श्याम.(1954). भारतीय लोकसाहित्य. नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.
- राय, बाबू गुलाब.(1974-75). भारतीय संस्कृति. ग्वालियर:रवीन्द्र प्रकाशन.
- कुमार, जैनेन्द्र.(1979). साहित्य और संस्कृति. नई दिल्ली:पूर्वोदय प्रकाशन.
- पांडे, डॉ.त्रिलोचन.(1978). लोकसाहित्य का अध्ययन. इलाहाबाद:लोकभारती प्रकाशन.
- उपाध्याय,डॉ.कृष्णदेव.(1957).लोक-साहित्य की भूमिका. इलाहाबाद:साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड.
- उपाध्याय,डॉ.कृष्णदेव.(2014).लोक-संस्कृति की रूपरेखा.इलाहाबाद:लोकभारती प्रकाशन.
- गौतम, सुरेश.(2008). लोक साहित्य अर्थ और व्याप्ति. दिल्ली:संजय प्रकाशन.
- नारायण, बद्री.(2014). लोक-संस्कृति और इतिहास. इलाहाबाद: लोक भारती प्रकाशन.
- शुक्ल, जयश्री जैन(2014). लोकसाहित्य की प्रासंगिकता. दिल्ली:भवना प्रकाशन.
- उनियाल, राजेश्वर(2014). हिंदी लोक साहित्य का प्रबंधन, दिल्ली:कल्पना प्रकाशन.

3.10 अभ्यास-प्रश्न:

(क)संक्षिप्त प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

1. साहित्य और संस्कृति के मूल तत्व एवं सहजधर्म एक ही है- यह कथन किसका है?
2. 'लोकविश्वास' से आप क्या समझते है?
3. पर्व और उत्सव में क्या अंतर है?
4. ललित कलाओं के संबंध में डॉ. रामेश्वर दयाल किस प्रकार अपना मत प्रकट करते हैं?
5. लोक-संस्कृति किस प्रकार मनुष्य के भावनात्मक अनुभूति के साथ जुड़ी हुई है?

(ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए-

1. लोक संस्कृति के नियामक तत्व और विशेषताओं पर एक आलेख तैयार कीजिए।
2. साहित्य में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुआ है? विस्तार से समझाइए।

3. लोकसंस्कृति और कला के अंतःसंबंध को अपने शब्दों में लिखिए।
4. लोक संस्कृति में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुआ है, वर्णन कीजिए।
5. लोक-संस्कृति के महत्व को रेखांकित करते हुए रीति-रिवाज के विविध प्रकारों की चर्चा कीजिए।



This document was created with the Win2PDF “Print to PDF” printer available at

https://www.win2pdf.com

This version of Win2PDF 10 is for evaluation and non-commercial use only.
Visit https://www.win2pdf.com/trial/ for a 30 day trial license.

This page will not be added after purchasing Win2PDF.

https://www.win2pdf.com/purchase/